पुस्तक :

जैन इतिहास के प्रसंग

भाग–1

(भगवान ऋषभदेव)

प्रेरणास्रोत :

आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.

द्वारा निर्देशित ***जैन धर्म का मौलिक इतिहास***

तथा श्री गजसिंह जी राठौड़ आदि विद्वज्जनों द्वारा

सम्पादित के आधार पर

सम्पादक :

डॉ. दिलीप धींग

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल

बापू बाजार, जयपुर–3 (राजस्थान)

फोन नं. 0141–2575997, 2571163

फैक्स : 0141–2570753 Email : sgpmandal@yahoo.in

द्वितीय संस्करण : 2013

मुद्रित प्रतियाँ : 1100

मूल्य : **5/-** (पाँच रुपये मात्र)

मुद्रक : **दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर**

1

जैन इतिहास के प्रसंग

भगवान ऋषभदेव

सामान्य श्रुतधर काल

सामान्य पूर्वधर काल

दशपूर्वधर काल

श्रुतकेवली काल

केवली काल

तीर्थंकर काल

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

:: अन्य प्राप्ति स्थल ::

❒ **श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ**
घोड़ों का चौक, **जोधपुर–342001**
(राजस्थान) फोन: 0291 – 2624891

❒ **Shri Navratan ji Bhansali**
C/o. Mahesh Electricals,
14/5, B.V.K. Ayangar Road,
BANGALORE-560053
(Karnataka)
Ph. : 080-22265957
Mob. : 09844158943

❒ **Shri B. Budhmal ji Bohra**
C/o. Bohra Syndicate,
53, Erullapan Street,
Sowcarpet,**CHENNAI-79**
(Tamilnadu)
Ph. : 044-26425093
Mob. : 09444235065

❒ **श्रीमती विजया जी मल्हारा**
रतन सागर बिल्डिंग, कलेक्टर बंगला रोड,
चर्च के सामने, **जलगाँव–425001**
(महाराष्ट्र) फोन : 0257–2225903

❒ **श्री दिनेश जी जैन**
1296, कटरा धुलिया,
चाँदनी चौक, दिल्ली–110006
फोन: 011–23919370 मो. : 09953723403

प्रकाशकीय

भारतीय श्रमण-परम्परा में आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. को उनके बहुआयामी अवदानों तथा उपकारों के लिए जाना जाता है। उनके द्वारा निर्देशित 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' (चार भाग) न सिर्फ श्रमण संस्कृति, अपितु भारतीय संस्कृति और इतिहास के लिए अगणित तथ्यों और जानकारियों से भरा उपयोगी दस्तावेज है। सुदूर अतीत में हुए प्रमुख व्यक्तियों और घटनाओं की तथ्य पूर्ण प्रस्तुति अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इतिहास मनीषी आचार्य हस्ती के साधनामय तथा पाद-विहारी जीवन के दो दशकीय अथक श्रम और सतत शोध के फलस्वरूप करीब साढ़े तीन हजार पृष्ठों में इस इतिहास की प्रस्तुति सम्भव हुई। अपनी विलक्षण शोध-दृष्टि, विश्लेषण-क्षमता और प्रमाणों के आलोक में आचार्यश्री ने एक ओर इतिहास सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों का निराकरण किया, दूसरी ओर कई नये तथ्यों से हमें अवगत कराया। जहाँ, वे कोई निर्णय नहीं कर पाए, वहाँ उन्होंने यह निर्देश कर दिया कि 'इस सम्बन्ध में और भी शोध की आवश्यकता है।' उनके इस प्रकार के निर्देश में उनकी शोधप्रियता और शोध-की-प्रेरणा छिपी हुई है। उनके द्वारा प्रस्तुत जैन इतिहास समस्त संस्कृति-प्रेमी और इतिहास-प्रेमी जिज्ञासुओं को आकर्षित करता है।

जैन इतिहास बहुत ही रोचक और व्यापक विषय है। इसमें अनेक प्रेरक तथ्य, कथाएँ, घटनाएँ और प्रसंग भरे पड़े हैं। ये छोटे-बड़े प्रसंग जीवन, जगत्, समाज, आचार, विचार, परम्पराएँ, समय, इतिहास आदि के बारे में अनेक प्रकार के संकेत और निर्देश करते हैं। कथात्मक होने से ऐसे प्रसंग हमेशा के लिए मानस पटल पर अंकित हो जाते हैं और जीवन की अनजानी और अन्धियारी राहों में पथ-प्रदीप बनकर मार्गदर्शक बनते हैं।

आज की व्यस्त जिन्दगी में सारे इतिहास को आद्योपान्त पढ़ना सबके लिए सहूलियत भरा नहीं है। ज्ञानवर्द्धन, संस्कार-जागरण और जीवन-निर्माण के लिए अल्प मूल्य की छोटी-छोटी किताबों की उपयोगिता सर्वविदित है। आचार्य हस्ती जन्म शताब्दी के पुनीत अवसर पर हमारा विचार बना कि जैन इतिहास के रोचक और प्रेरक प्रसंगों की छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ तैयार की जाएँ, जिससे अधिकाधिक पाठकों तक प्रेरक ऐतिहासिक प्रसंग पहुँच सकें। ऐसा करने से सभी आयु और रुचि के पाठक वर्ग में इनकी पठनीयता बढ़ेगी। अल्प मूल्य की इन छोटी-छोटी पुस्तिकाओं को किसी अवसर विशेष पर बड़ी संख्या में वितरित करके हमारे इस अभिनव प्रयास का विशेष मूल्यांकन भी किया जा सकता है।

पूज्य आचार्यप्रवर के मार्गदर्शन में विद्वद्वरेण्य श्री गजसिंह जी राठौड़ एवं सम्पादक-मण्डल के सहयोग से '**जैन**

धर्म का मौलिक इतिहास' के जो चार भाग तैयार हुए, उनकी महत्ता विश्वविद्यालयों के सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में आज भी विद्यमान है। तथापि इन चारों भागों की विषय-वस्तु सर्वजनग्राह्य हो, इस दृष्टि से सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के अध्यक्ष श्री पी. शिखरमल जी सुराणा, चेन्नई के सत्प्रयासों से मौलिक इतिहास के संक्षिप्तीकरण का कार्य प्रारम्भ हुआ। डॉ. दिलीप जी धींग (उदयपुर वाले), बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने चेन्नई आने के पश्चात् अल्पावधि में ही मौलिक इतिहास के विभिन्न इतिहास प्रसंगों को लघुखण्डों में संयोजित एवं सम्पादित कर दिया।

लाखों श्रद्धालुओं के हृदयपटल में सतत बसने वाले आचार्य प्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. एवं उपाध्याय प्रवर श्री मानचन्द्रजी म.सा. का दीक्षा अर्द्धशती वर्ष मनाया जा रहा है। इस अवसर पर 'जैन इतिहास के प्रसंग' के विभिन्न भागों को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रमोद अनुभव हो रहा है।

ह्न:: निवेदक ::ह्न

कैलाशमल दुगड	**सम्पतराज चौधरी**	**विनयचन्द डागा**
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

अनुक्रमणिका

क्रम	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
1.	प्रथम तीर्थंकर का प्रथम भव	7
2.	चिकित्सा-सेवा का सुफल	8
3.	ऋषभदेव का जन्म	11
4.	नामकरण और बचपन	13
5.	विवाह-परम्परा का सूत्रपात	16
6.	प्रथम मार्गदर्शक ऋषभदेव	18
7.	कलाओं के आद्यगुरु ऋषभदेव	21
8.	प्रथम राजा ऋषभदेव	23
9.	समर्थ राष्ट्र का निर्माण	27
10.	वर्षीदान और दीक्षा	30
11.	दान-तप का पर्व : अक्षय तृतीया	32
12.	कैवल्य और तीर्थ-स्थापना	36
13.	भरत का विवेक	39
14.	मरुदेवी की मुक्ति	40
15.	अहिंसक युद्ध	42
16.	भरत की अनासक्ति	44
17.	ऋषभदेव का धर्म-परिवार	46
18.	ऋषभदेव का निर्वाण	47
19.	सर्वपूज्य भगवान ऋषभदेव	49
20.	भरत का कैवल्य और मुक्ति	51
21.	इतिहास पुरूष आचार्य हस्ती	54

भगवान ऋषभदेव

प्रथम तीर्थंकर का प्रथम भव

भगवान ऋषभदेव का जीव किसी भव में महाविदेह के क्षितिप्रतिष्ठ नगर में धन्ना नामक सार्थवाह के रूप में उत्पन्न हुआ। धन्ना के पास विपुल सम्पदा थी, दूर-दूर देशों में उसका व्यापार चलता था। एक बार उसने घोषणा करवाई कि जिस किसी को अर्थोपार्जन के लिए विदेश चलना हो, वह मेरे साथ चले। उसे सब प्रकार की सुविधाएँ दी जाएँगी। यह घोषणा सुनकर सैकड़ों लोग उसके साथ चल पड़े। आचार्य धर्मघोष को भी वसंतपुर जाना था। निर्जन अटवी पार करने के लिए सहज प्राप्त संयोग को अनुकूल समझकर वे भी अपनी शिष्य मण्डली के साथ धन्ना सेठ के साथ हो लिए। सेठ ने अपने अनुचरों को आदेश दिया कि आचार्य के भोजनादि का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। आचार्य ने बताया कि श्रमणों को अपने लिये बनाया हुआ आधाकर्मी और औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार निषिद्ध है।

कुछ दिनों के बाद वर्षाकाल आया और घनघोर घटायें उमड़-घुमड़ कर बरसने लगीं। सार्थवाह ने मौसम की प्रतिकूलता देखकर जंगल में ही एक सुरक्षित स्थान पर वर्षाकाल

बिताने का निश्चय किया। आचार्य धर्मघोष भी वहीं एक दोषरहित स्थान पर ठहर गए। जंगल में अधिक समय तक रुकने के कारण सार्थ की सम्पूर्ण खाद्य सामग्री समाप्त हो गई, लोग वन के फल, कन्द, मूल आदि से जीवन बिताने लगे। वर्षा समाप्त होते ही धन्ना सेठ को अकस्मात् आचार्य की स्मृति हो आई। वह पश्चात्ताप करते हुए आचार्य के पास गया और आहार लेने की अभ्यर्थना करने लगा। आचार्य ने उसको श्रमणाचार की मर्यादा समझाई जिसके अनुसार दोषयुक्त आहार के साथ-साथ श्रमणों के लिए फल-फूल आदि हरे पदार्थ भी अग्राह्य हैं। विधि-अविधि का ज्ञान प्राप्त कर सेठ ने परम उल्लास से मुनि को निर्दोष विपुल घृत का दान किया और जीवन में पहली बार वहीं उसे सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हुई। अत: पहले के अनंत भवों को छोड़कर यहीं से ऋषभदेव के प्रथम भव की गणना की गयी है। ऋषभदेव के 13 भवों में यह प्रथम भव है।

चिकित्सा-सेवा का सुफल

भगवान ऋषभदेव का जीव अपने नौवें भव में सुविधि वैद्य के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उनका नाम जीवानन्द रखा गया। जीवानन्द के 4 अन्तरंग मित्र थे - पहला राजपुत्र महीधर, दूसरा श्रेष्ठिपुत्र, तीसरा मंत्रीपुत्र और चौथा सार्थवाहपुत्र।

एक बार जब वह अपने मित्रों के साथ घर में वार्तालाप कर रहा था तो एक दीर्घ-तपस्वी मुनि भिक्षार्थ पधारे। मुनि के शरीर में कृमि-कुष्ठ की व्याधि उत्पन्न हो गई थी। राजपुत्र महीधर ने मुनि की विपन्न स्थिति देखकर जीवानन्द से कहा, ''मित्र, तुम लोगों की चिकित्सा करते हो पर खेद की बात है कि तपस्वी-मुनि के लिए कुछ करने को तत्पर नहीं हो।'' उत्तर में जीवानन्द ने कहा - 'इस रोग की चिकित्सा के लिए रत्नकम्बल, गोशीर्षचन्दन और लक्षपाक तेल नामक तीन वस्तुएँ आवश्यक हैं और मेरे पास केवल लक्षपाक तेल है। अन्य वस्तुएँ न होने के कारण मैं कुछ कर पाने में असमर्थ हूँ।' यह सुनकर महीधर ने चारों मित्रों के साथ उन वस्तुओं को उपलब्ध करने की इच्छा से बाजार की ओर प्रस्थान किया और नगर के एक बड़े व्यापारी के यहाँ पहुँचकर रत्नकम्बल और गोशीर्ष चंदन की माँग की। व्यापारी ने इन दोनों वस्तुओं की कीमत 1-1 लाख स्वर्णमुद्राएँ बताई और इन दोनों वस्तुओं की आवश्यकता का कारण पूछा। कारण जानकर व्यापारी युवकों की श्रद्धा-भावना से बहुत प्रभावित हुआ और सोचने लगा कि क्यों न मैं भी मुनि सेवा के इस पवित्र कार्य का लाभ उठाऊँ और उसने बिना कुछ मूल्य लिए ही वे दोनों वस्तुएँ दे दीं।

वैद्य पुत्र जीवानन्द और उसके चारों साथी उन वस्तुओं को लेकर मुनि के पास गए। जीवानन्द ने वन्दन कर पहले मुनि के शरीर पर लक्षपाक तेल का मर्दन किया। रोमकूपों से शरीर में तेल के समाते ही कुष्ठकृमि कुलबुला कर बाहर निकलने लगे। तब जीवानन्द ने रत्नकम्बल से तपस्वी के शरीर को ढँक दिया जिससे सारे कीड़े कम्बल में आ गए। तब वैद्य ने वह कम्बल एक पशु के मृत कलेवर पर डाल दिया और वे सब कीट उस मृत कलेवर में समा गए। अन्त में जीवानन्द ने मुनि के शरीर पर गोशीर्ष चंदन का लेप किया। इस प्रकार तीन बार मालिश करके जीवानन्द ने अपने चिकित्सा कौशल से उन तपस्वी मुनि को पूर्णरूपेण रोग से मुक्त कर दिया। मुनि की इस प्रकार निस्पृह एवं श्रद्धा भक्तिपूर्ण सेवा से जीवानन्द आदि मित्रों ने महान्-पुण्य-लाभ प्राप्त किया। मुनि को पूर्णरूप से स्वस्थ देखकर उनका अन्तर्मन गद्‌गद् हो गया। मुनि ने उनको त्याग और वैराग्य पूर्ण उपदेश दिया जिससे प्रभावित होकर जीवानन्द ने अपने चारों मित्रों के साथ श्रावकधर्म ग्रहण किया। तदनन्तर श्रमणधर्म की विधिवत् आराधना कर पाँचों मित्र अच्युतकल्प नामक बारहवें स्वर्ग में देव पद के अधिकारी बने।

देवायु पूर्ण कर जीवानन्द के जीव ने पुष्कलावती

विजय में महाराज वज्रसेन की रानी धारिणी के यहाँ पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किया। गर्भकाल में माता ने 14 महास्वप्न देखे। वज्रसेन ने अपने उस पुत्र का नाम वज्रनाभ रखा जो आगे चलकर चक्रवर्ती बना। उसके अन्य चार मित्र बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ के नाम से उसके सहोदर भाई के रूप में उत्पन्न हुए और माण्डलिक राजा बने। इनके पिता तीर्थंकर वज्रसेन ने केवली होकर जब देशना आरम्भ की तब पूर्वजन्म के संस्कारवश चक्रवर्ती वज्रनाभ भी दीक्षित हो गए। उन्होंने दीर्घकाल तक तपस्या की और अर्हद्भक्ति आदि बीसों ही स्थानों की सम्यक् आराधना कर उसी जन्म में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में आयु पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र देव हुए।

ऋषभदेव का जन्म

सर्वार्थसिद्धविमान में देव आयु पूर्ण करके ऋषभ का जीव आषाढ़ कृष्णा 14 को माता मरुदेवी की कोख में गर्भरूप में उत्पन्न हुआ। उस रात्रि के पिछले प्रहर में माता मरुदेवी ने निम्न 14 शुभ स्वप्न देखे:- 1. वृषभ 2. गज 3. सिंह 4. लक्ष्मी 5. पुष्पमाला 6. चन्द्र 7. सूर्य 8. ध्वजा 9. कुंभ 10. पद्मसरोवर 11. क्षीर समुद्र 12. विमान 13. रत्नराशि

और 14. निधूर्म अग्नि। दिगम्बर परम्परा में मत्स्य-युगल व सिंहासन - ये 2 बढ़ाकर 16 स्वप्न देखना बतलाया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि अन्य सब तीर्थंकरों की माताएँ प्रथम स्वप्न में हाथी को मुँह में प्रवेश करते हुए देखती हैं, जबकि मरुदेवी ने प्रथम स्वप्न में वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा। स्वप्न देख जागृत हुई मरुदेवी महाराज नाभि के पास आई और स्वप्न संबंधी वृत्तान्त उन्हें बताया। महाराज नाभि ने अपनी औत्पातिकी बुद्धि से स्वप्नों का फल सुनाया। गर्भकाल सानंद समाप्त होने पर चैत्र कृष्ण अष्टमी को माता मरुदेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। वैदिक परम्परा के धर्मग्रन्थों में भी लगभग जैन परम्परा के आगमों के समान ही सुदीर्घ समयावधि पूर्व भगवान ऋषभदेव का जन्म होना माना गया है। जिस समय भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ, सभी दिशाएँ शान्त थीं, सम्पूर्ण लोक में उद्योत हो गया। क्षण भर के लिए नारक जीवों को भी विश्रान्ति प्राप्त हुई।

त्रिलोकपूज्य, संसार के सर्वोत्कृष्ट पद तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों का बन्ध किये हुए महान आत्मा जब जन्म ग्रहण करते हैं, उस समय 56 दिशाकुमारियों एवं 64 देवेन्द्रों के आसन प्रकम्पित होते हैं। अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा जब

उन्हें विदित होता है कि तीर्थंकर का जन्म हो गया है, तो वे सब अपनी अद्भुत देवऋद्धि के साथ तीर्थंकर के जन्मगृह तथा मेरुपर्वत और नंदीश्वर द्वीप में उपस्थित हो बड़े ही हर्षोल्लास के साथ तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाते हैं। संसार के शाश्वत नियम के अनुसार सभी देव-देवेन्द्रों ने प्रभु का जन्माभिषेक महोत्सव एवं जन्म का अष्टाह्निक महा महोत्सव मनाया। महाराज नाभि और उनकी प्रजा ने भी बड़े हर्षोल्लास से प्रभु का जन्मोत्सव मनाया।

नामकरण और बचपन

मरुदेवी ने गर्भकाल के प्रारम्भ में देखे गए महास्वप्न में सर्वप्रथम सर्वांग-सुन्दर वृषभ को देखा था और शिशु के उरुस्थल पर भी वृषभ का शुभ-लक्षण (लांछन-चिह्न) था, अत: माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम ऋषभ रखा। श्रीमद्भागवत् के अनुसार सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, यश और पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ रखा। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में वृषभदेव नाम उपलब्ध होता है। वृषभदेव जगत् में ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं। ये जगत् के लिए हितकारक धर्म रूपी अमृत की वर्षा करने वाले हैं, इसलिए इन्द्र ने उनका नाम वृषभदेव रखा।

ऋषभ कुमार जिस समय करीब एक वर्ष के थे, तब एक दिन देवराज इन्द्र प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए। उस समय उनके हाथ में एक इक्षुदण्ड था। बालक ने इक्षु की ओर हाथ बढ़ाया। इन्द्र ने वह इक्षुदण्ड प्रभु को प्रस्तुत किया। प्रभु ने ईख के रस (काश) का पान किया। संभवत: इसी के कारण प्रभु के वंश का नाम 'इक्ष्वाकु' और गोत्र का नाम 'काश्यप' पड़ गया। भगवान के जन्म की भूमि भी 'इक्ष्वाकुभूमि' कहलाई।

भगवान ऋषभदेव जिस समय माता के गर्भ में आए, उस समय कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की, इसलिए उनका नाम 'हिरण्यगर्भ' भी रखा गया। भगवान ऋषभदेव कर्म और धर्म के आदि प्रवर्तक थे अत: जैनाचार्यों तथा जैन इतिहासविदों ने इन्हें 'आदिनाथ' कहकर संबोधित किया। परिणामस्वरूप जनसाधारण में, शताब्दियों से भगवान ऋषभदेव आदिनाथ के नाम से भी विख्यात हैं।

आगमों के व्याख्या-साहित्य के अनुसार शिशु-तीर्थंकर स्तनपान नहीं करते। देव-देवेन्द्रों ने प्रभु ऋषभ के जन्म ग्रहण करते ही उनके हाथ के अंगूठे में अमृत अथवा मनोज्ञ पौष्टिक रस का स्थापन कर दिया था। भूख लगने पर शिशु ऋषभ अपने अंगूठे को मुँह में रख लेते और उसी के

सहारे विभिन्न प्रकार के पौष्टिक रस ग्रहण करते। भगवान ऋषभ ज्यों-ज्यों बड़े होते गए त्यों-त्यों देवतागण उन्हें फलादि मनोज्ञ आहार पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत करते रहे। कहावली के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने प्रव्रजित होने से पूर्व तक अपने सम्पूर्ण गृहस्थ-जीवन काल में देवों द्वारा लाये गये देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रों के फलों का आहार और क्षीरसागर के जल का ही सेवन किया।

भगवान ऋषभदेव सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवन के समय से ही मति, श्रुत व अवधि इन तीन ज्ञानों के धारक थे। जातिस्मरण ज्ञान से उन्हें अपने पूर्व भवों का सम्यक् परिज्ञान था। अत: उन्हें किसी कलागुरु या कलाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी। वे स्वयं ही समस्त विद्याओं के निधान और निखिल कलाओं के पारगामी जगद्गुरु थे।

ऋषभदेव की बाल-लीलाएँ बड़ी अद्भुत और जनमानस को आह्लादित, आत्मविभोर और सम्मोहित करने वाली होती थीं। उनके नयनाभिराम अलौकिक सौंदर्य को देखने के लिए आने वालों का ताँता लगा रहता था। प्रभु की एक-एक मधुर मुस्कान पर, एक-एक मनोहारी बाल-लीला पर

माता मरुदेवी और पिता नाभिराज आत्मविभोर हो आनंद-सागर की तरंगों में झूम उठते थे।

इस प्रकार सभी लोग प्रभु की बाल-लीलाओं के अनिर्वचनीय सुख का आनंद ले रहे थे कि उसी बीच एक दिन उस काल के लिए अश्रुत और अभूतपूर्व घटना घटी। वन में एक यौगलिक (बालक-बालिका) युगल बाल-क्रीड़ा कर रहा था। सहसा उस बालक के मस्तक पर तालवृक्ष का फल गिरा और उसकी मृत्यु हो गई। इस अदृष्टपूर्व घटना को देख कर लोग सहम उठे। बालिका को वन में अकेले देख विस्मित यौगलिक उसे नाभिराज के पास ले आए और उन्होंने सारी घटना बड़े आश्चर्य से नाभिराज को सुनाई। नाभिराज ने उनको समझाते हुए कहा कि इससे यही प्रकट हो रहा है कि काल करवट ले रहा है, यह घटना उसकी पूर्व सूचना मात्र है। नाभिराज ने उस बालिका को अपने भवन में रखवाया और कहा कि समय आने पर यह ऋषभकुमार की भार्या बनेगी। उस बालिका का नाम सुनंदा रखा गया। सुनंदा भी अब ऋषभकुमार तथा सुमंगला के साथ रहने और बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ करने लगी।

विवाह-परम्परा का सूत्रपात

भगवान ने बाल-लीलाएँ करते-करते किशोर

अवस्था से गुजरते हुए यौवन की देहली पर कदम रखा। जब इन्द्र ने देखा कि प्रभु विवाह के योग्य अवस्था को प्राप्त हो गए हैं तो उन्होंने नाभिराज से परामर्श लेकर कुमार ऋषभ का विवाह सुमंगला और सुनंदा दोनों के साथ सम्पन्न करने का निर्णय लिया। उस समय लोगों के लिए विवाह कार्य नितांत नवीन और कौतूहल का विषय था। अत: स्वयं इन्द्र और इन्द्राणियों ने विवाह सम्बन्धी सारे कार्य सँभाले। इस विवाह से पूर्व यौगलिक काल में नर-नारी शिशु युगल माता की कोख से एक साथ जन्म लेता और समय आने पर पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करता था। अपने युग की इस नितांत नवीन और सबसे पहली विवाह-प्रक्रिया को देखने के लिए यौगलिकों का एक विशाल समूह नाभिराज के यहाँ एकत्र हो गया। उन्होंने भावी मानव-समाज के हित में कालप्रभाव से बढ़ती हुई विषय-वासना को विवाह सम्बन्ध से सीमित कर मानव जाति को वासना की भट्टी में गिरने से बचाने के लिए विवाह परम्परा का सूत्रपात किया।

विवाह समारोह कई दिनों तक चलता रहा और सारा वातावरण आनंद से ओत-प्रोत रहा। स्वयं नाभिराज और मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभकुमार को वर रूप में सजे दो नववधुओं

के साथ देखकर पुलकित हो रहे थे और अपार आनंद का अनुभव कर रहे थे। इस प्रकार विवाह सम्पन्न हो जाने पर भगवान ऋषभदेव सुमंगला और सुनंदा के साथ सुखी दाम्पत्य जीवन बिताने लगे।

प्रथम मार्गदर्शक ऋषभदेव

यों तो इस अवसर्पिणी काल के प्रथम कुलकर के समय से ही काल करवट बदलने लगा था पर नाभिराज के समय में स्थिति पूर्णरूपेण बदल चुकी थी। जब भोगभूमि के अन्त व कर्मभूमि के उदय का संधिकाल समीप आया तो कल्पवृक्ष नाम मात्र को शेष रह गए थे, भूख और अभाव से मानव त्राहि-त्राहि करने लगा था। अब तक लोग बिना कुछ किए ही सब प्रकार के सुखों का भोग कर रहे थे, पर अब बिना कुछ किए भोजन और पानी मिलना असंभव था। भूख और अभाव से संत्रस्त लोग नाभिराज के पास पहुँचे और उन्हें अपनी स्थिति से अवगत कराया। नाभिराज अपने पुत्र ऋषभकुमार के बुद्धि-कौशल और अलौकिक गुणों से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने अपने पुत्र से संकटग्रस्त मानवता का मार्गदर्शन करने के लिए कहा।

कुमार ऋषभदेव ने लोगों को शांत और आश्वस्त

करते हुए कहा – कल्पवृक्षों से प्राप्त फलों के अतिरिक्त वन में उगे शाली आदि अन्न का सेवन करो, इक्षु रस का पान करो। वन में अनेक प्रकार के कन्द–मूल, फल–फूल और पत्र आदि हैं जिनका सेवन कर क्षुधा शांत की जा सकती है और उन्होंने वन में खाने योग्य फल–फूलों और कन्द–मूलों से उन्हें परिचित कराया। अब लोग भगवान ऋषभदेव के बताए रास्ते से अपना जीवनयापन करने लगे और उन्हें ही सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष समझने लगे।

इस प्रकार कन्द–मूल और फल–फूल के साथ–साथ वे कच्चे अनाज का भी उपयोग करने लगे जिससे कुछ लोगों को अपच और उदर विकार की शिकायत होने लगी। जब लोगों ने अपनी यह समस्या ऋषभकुमार के सम्मुख रखी तो उन्होंने कहा कि शाली आदि धान्यों का छिलका हटा कर हथेली में अच्छी तरह मसल कर खाओ तथा कम मात्रा में सेवन करो तो अच्छा रहेगा। ऐसा करने से जब तक अनाज कच्चे थे तब तक तो कोई समस्या नहीं रही पर पके हुए अनाज को खाने से पुरानी समस्या फिर उपस्थित हुई। अब कुमार ने उनसे कहा कि पके हुए अनाज को पहले पानी में भिगोओ और फिर मुट्ठी में अथवा बगल में कुछ देर रख कर गरम करने

के बाद खाओ तो कोई बाधा उत्पन्न नहीं होगी। ऐसा करने से कुछ काल तक तो कोई कष्ट नहीं हुआ पर आगे चल कर कम गर्म अनाज खाने के कारण फिर अपच और पीड़ा आदि की समस्या उत्पन्न हुई तो समयानुसार उन्होंने लकड़ियों को घिस कर अग्नि उत्पन्न करने और अग्नि का उपयोग कर भोजन पकाने की कला सिखाई।

चूर्णिकार ने लिखा है कि एक दिन वन में बाँस वृक्षों में वायु के वेग से घर्षण के कारण अनायास ही आग उत्पन्न हो गई। आग भूमि पर गिरकर घास और सूखे पत्तों को जलाने लगी। यौगलिकों ने चमक के कारण रत्न समझकर उसे पकड़ने का प्रयास किया किन्तु छूते ही जब हाथ जले तो आग के अंगारों को फेंककर वे ऋषभकुमार के पास पहुँचे और सारी कहानी कह सुनाई। ऋषभ ने कहा – यह आग है, इसी आग में कच्चे धान को पकाकर खाया जाय तो उदर–विकार की कोई शिकायत नहीं रहेगी। इसके बाद उन्होंने मिट्टी गीली करके उससे मिट्टी के पात्र बनाना सिखाया, उसमें भोजन पकाने की कला सिखाकर ऋषभकुमार ने उनकी समस्या का समाधान किया अत: यौगलिक उन्हें विधाता और प्रजापति कहने लगे और उनकी शीतलछाया में समय–समय पर सही मार्गदर्शन

पाकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताने लगे। इस प्रकार भोगयुग और कर्मयुग के संक्रांतिकाल में ऋषभदेव ने 14 लाख पूर्व तक एक कुलकर के समान यौगलिकों की देखभाल की। यही कारण है कि आगमीय-व्याख्या के ग्रंथों में आचार्यों ने ''जइया किर कुलकरो उसभो'' इन गाथापदों के रूप में ऋषभदेव की यशोगाथाओं का गान किया है।

कलाओं के आद्यगुरु ऋषभदेव

जब ऋषभदेव की आयु 6 लाख पूर्व की हुई तो देवी सुमंगला ने पुत्र और पुत्री के एक युगल के रूप में भरत और ब्राह्मी को जन्म दिया। इसके कुछ ही देर बार सुनंदा ने भी पुत्र-पुत्री के एक युगल के रूप में बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। देवी सुमंगला ने कालान्तर में पुन: 49 युगल पुत्रों को जन्म दिया। इस प्रकार देवी सुमंगला 99 पुत्रों तथा 1 पुत्री और देवी सुनंदा एक पुत्र और एक पुत्री की माता बनीं। इस प्रकार प्रभु ऋषभदेव के 100 पुत्र और दो पुत्रियाँ, कुल मिलाकर 102 संताने थीं। वे सभी चरम-शरीरी थे।

त्रिकालज्ञ भगवान ऋषभदेव जानते थे कि भोगयुग समाप्ति की ओर है और कर्मयुग आने वाला है जिसमें प्राकृतिक सुख-सुविधाओं का अभाव होगा और मानव-समाज को

अपने परिश्रम से जीवन निर्वाह करना होगा। तब उन्होंने यह विचार किया कि यदि भरत आदि सौ कुमारों तथा ब्राह्मी और सुन्दरी को भविष्य में काम आने वाली सभी कलाओं और विद्याओं का समुचित प्रशिक्षण दे दिया जाये तो समय आने पर सारी मानवता के लिए कल्याणकारी होगा। मेरी सभी संतानें उस समय दूर-दूर स्थानों में जाकर वहाँ के लोगों को उन कार्यकलापों की जानकारी देकर उनके जीवन को सरल और सुखमय बनाने में सहायक होंगी।

इस प्रकार का दूरदर्शितापूर्ण विचार मन में आते ही प्रभु ने सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से 18 प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया और सुन्दरी को बायें हाथ से गणित का ज्ञान कराया। उसके पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषों की 72 कलाओं और बाहुबली को प्राणिलक्षण का ज्ञान कराया। फिर प्रभु ने अपनी दोनों पुत्रियों को महिलाओं की 64 कलाओं की शिक्षा दी। इस प्रकार अवसर्पिणी काल के आद्य विद्यार्थियों के रूप में भरत आदि भाइयों ने अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी बहनों के साथ अपने पिता आद्यगुरु भगवान ऋषभदेव के चरणों में बैठकर बड़ी ही निष्ठापूर्वक लेखन, चित्रकला, संगीतकला, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, शिल्पशास्त्र,

रणशास्त्र आदि सभी प्रकार की विद्याओं और कलाओं का अध्ययन कर उनमें निष्णातता प्राप्त की।

इस प्रकार ऋषभदेव ने कर्मयुग के आगमन के समय उन भोले लोगों को सुखपूर्वक जीने की कला सिखाकर मानवता को भटकने से बचाया। यह उनका मानवता पर महान् उपकार है।

प्रथम राजा ऋषभदेव

प्रकृति का रूप बड़ी द्रुतगति से परिवर्तित होने लगा। प्रकृति द्वारा प्रदत्त कल्पवृक्ष आदि सब प्रकार की सुविद्याएँ धीरे-धीरे अदृश्य हो गईं। कन्द-मूल, फल-फूल, धन-धान्य आदि की उत्पत्ति अल्प और अपर्याप्त हो गई। औषधियों, वनस्पतियों की अद्‌भुत शक्ति प्रभावहीन हो गई। इस प्रकार जीवन निर्वाह की सामग्री की मात्रा अपर्याप्त होने के कारण अभाव की स्थिति उत्पन्न हुई। अभाव के परिणामस्वरूप अभियोगों में वृद्धि हुई। अभावग्रस्त मानव के मस्तिष्क में अपराध-प्रवृत्ति ने स्थान बनाया, छीना-झपटी बढ़ने लगी, पारस्परिक कलह बढ़ने लगे, लोगों के शांति-पूर्ण और सौम्य स्वभाव में परिवर्तन आने लगा । लोगों में कटुता उत्पन्न होने लगी।

इस प्रकार की संकटपूर्ण स्थिति से घबराकर यौगलिक समाज एकत्रित हो अपने उपकारी, पथप्रदर्शक ऋषभदेव के पास पहुँचा और उन्हें वस्तुस्थिति से परिचित कराते हुए प्रार्थना की कि लोगों में अशांति, कलह, लूट-खसोट आदि आपराधिक प्रवृत्तियों की वृद्धि को रोक कर हमारे जीवन-निर्वाह की समुचित व्यवस्था के लिए मार्गदर्शन देने की कृपा कीजिए।

ऋषभदेव ने यौगलिकों को आश्वस्त करते हुए कहा - अब इस भूमि पर कर्मयुग पदार्पण कर चुका है, फलस्वरूप तुम्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए कठोर श्रम करना होगा। यौगलिकों को अपने अंधकार पूर्ण भविष्य में एक आशा की किरण दृष्टिगोचर हुई। उनकी निराशा दूर हुई और उन्होंने दृढ़ संकल्प के स्वर में कहा - प्रभो! हम आपके इंगित् मात्र पर कठोर से कठोर परिश्रम करने को तैयार हैं। यह सुनकर ऋषभदेव बोले ऐसी स्थिति में तुम लोग अपना जीवन सुखी और समृद्ध बनाने में सफल होओगे।

अपराध-निरोध के लिए दण्डनीति और दण्ड व्यवस्था की आवश्यकता होती है, जिसका संचालन राजा द्वारा होता है। राजा का उस पद पर राज्य के वृद्धजनों, प्रजाजनों

द्वारा अभिषेक किया जाता है और वही परिस्थिति के अनुसार नीति में संशोधन और संवर्धन करता है। यह सुनते ही यौगलिकों ने हर्षविभोर होकर कहा – आप ही हमारे राजा हैं। हम अभी आपका राज्याभिषेक करते हैं। इस पर कुमार ऋषभ ने कहा – महाराज नाभि ही हमारे पूज्य हैं। आप लोग उन्हीं की सेवा में उपस्थित होकर निवेदन करें।

यौगलिकों ने नाभि कुलकर की सेवा में उपस्थित हो, सारी स्थिति उनके समक्ष रखी। यौगलिकों की बात सुनकर नाभिराज ने कहा– मैं तो अब वृद्ध हो चुका हूँ। अच्छा होगा तुम लोग ऋषभदेव को ही अपना राजा बना लो। वस्तुत: वे ही इस संकटपूर्ण स्थिति से तुम्हारा उद्धार करने में सर्वथा सक्षम और राज्यपद के लिए सभी दृष्टि से सुयोग्य हैं।

नाभि कुलकर की आज्ञा पाकर यौगलिक लोग बड़े प्रसन्न हुए। वे लोग तुरन्त ऋषभदेव के पास पहुँचे और परम पुलकित तथा हर्षावरुद्ध कण्ठ से बोले – महाराज नाभि ने आपको ही राजा पद पर अभिषिक्त करने की अनुमति दी है अत: हम लोग अभी पवित्र जल लाकर आपका अभिषेक करते हैं। और वे लोग हर्ष से उछलते हुए पद्म सरोवर की ओर गए।

उसी समय देवराज शक्र का सिंहासन चलायमान

हुआ। प्रभु ऋषभदेव के महाराज्याभिषेक का काल समीप आया जान अपने सभी देवी-देवताओं के साथ प्रभु की सेवा में पहुँचे। दिव्य वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कर प्रभु ऋषभदेव को एक दिव्य राजसिंहासन पर स्थापित कर बड़े हर्षोल्लास से उनका राज्याभिषेक किया। आकाश से देवों ने पुष्पवृष्टि की। इसके पश्चात् महाराज नाभि ने भी अपने पुत्र का राज्याभिषेक किया। देवांगनाओं ने मंगलगीत गाये।

उसी समय यौगलिकों का विशाल समूह पद्म सरोवर का जल लेकर प्रभु ऋषभदेव का अभिषेक करने पहुँचा। प्रभु को राज सिंहासन पर आसीन देख, उन लोगों के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने पद्म सरोवर का जल ऋषभदेव के चरणों में डालकर उनका राज्याभिषेक किया। ''महाराजाधिराज ऋषभदेव की जय'' से वायुमण्डल गूँज उठा। यौगलिकों के इस विनीत स्वभाव को देखकर देवराज शक्र ने इक्ष्वाकु भूमि के उस प्रदेश पर कुबेर को आदेश देकर एक विशाल नगरी का निर्माण करवाया और उसका नाम विनीता नगरी रखा जो कालान्तर में अपने अभेद्य, अजेय और अयोध्य-प्रताप के कारण अयोध्या नाम से विख्यात हुई।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के प्रथम राजा बने। उन्होंने अब तक चली आ रही कुलकर व्यवस्था को समाप्त कर नवीन राज्य व्यवस्था स्थापित की। प्रभु के राजसिंहासन पर आसीन होते ही कर्मयुग का शुभारंभ हुआ और अब तक की भोगभूमि, कर्मभूमि के रूप में रूपांतरित हुई। महाराज ऋषभदेव ने अपनी प्रजा को कर्मक्षेत्र में उतरने का आह्वान किया और कर्मभूमि के अभिनव निर्माण का महान् कार्य अपने हाथ में लिया। जिस समय भगवान ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया गया उस समय उनकी आयु 20 लाख पूर्व की थी।

समर्थ राष्ट्र का निर्माण

राज्याभिषेक के पश्चात् महाराज ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था के लिए सर्वप्रथम आरक्षक विभाग की स्थापना कर आरक्षक दल सुगठित किया। इस दल के अधिकारी ''उग्र'' नाम से पुकारे गये। तदनन्तर उन्होंने राजकीय व्यवस्था में परामर्श के लिए एक मंत्रिमण्डल का निर्माण किया और उन मंत्रियों को पृथक-पृथक विभागों का उत्तरदायित्व सौंपा। विभिन्न विभागों के उच्चाधिकारियों को ''भोग'' नाम से सम्बोधित किया गया। तत्पश्चात् सम्पूर्ण राष्ट्र को 52 जनपदों में विभक्त कर उनका

शासन चलाने के लिए सुयोग्य व्यक्तियों को महामाण्डलिक राजाओं के रूप में राज्याभिषेक किया। महामाण्डलिक राजाओं के अधीन अनेक छोटे-छोटे राज्यों का गठन किया और उनका शासन चलाने के लिए राजाओं को उन राज्यों के सिंहासन पर बिठाया।

उन सभी छोटे-बड़े शासकों को उनका उतरदायित्व समझाते हुए कहा - जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा जलाशयों से, बिना उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाए थोड़ा-थोड़ा (लगान) जल वाष्प के रूप में खींचता है उसी प्रकार शासन व्यवस्था चलाने के लिए प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर लिया जाय और जिस प्रकार सूर्य द्वारा वाष्प के रूप में ग्रहण किए जल को बादल वर्षा ऋतु में समान रूप से सर्वत्र पहुँचा देते हैं उसी प्रकार प्रजा से कर के रूप में लिए गए धन को प्रजा के हित के कार्यों में खर्च कर दिया जाये।

इस प्रकार राज्यों का गठन करने के पश्चात् महाराज ऋषभ ने राजाओं के एक परामर्श मण्डल की स्थापना की जो महाराज के साथ शासन सम्बन्धी विचारों का आदान-प्रदान कर सके। महाराज ने उन राजाओं को महामाण्डलिक, माण्डलिक, राजन्य, क्षत्रिय आदि उपाधियों से विभूषित किया।

राष्ट्र की सुरक्षा के लिए महाराज ऋषभ ने चार प्रकार की सेना गठित की और उनके उच्च अधिकारियों के रूप में सेनापतियों की नियुक्ति की। अपराध निरोध के लिए दण्ड-व्यवस्था प्रचलित की।

शासन, सुरक्षा और अपराध-निरोध की व्यवस्था करने के पश्चात् महाराज ऋषभदेव ने कर्मभूमि के कार्यकलापों के लिए अपनी प्रजा को स्वावलम्बी बनाने की योजना बनाई। उन्होंने प्रजा के हित के लिए असि, मसि और कृषि कर्म तथा 100 शिल्पों की शिक्षा दी। शिल्पकारों के रूप में पहले कुंभकार का कर्म सिखाया, फिर वस्त्रों के लिए पटकार कर्म, गृहों के निर्माण के लिए वर्धकी कर्म, तत्पश्चात् चित्रकार कर्म और केश तथा नखों के लिए नापित कर्म नामक पाँच मूल शिल्प कर्मों की शिक्षा दी। इन पाँच मूल शिल्पों के 20-20 भेदों से 100 प्रकार के कर्म उत्पन्न हुए। इन सभी शिल्पों एवं कृषि आदि कार्यों के लिए ऋषभदेव ने अपने 100 पुत्रों को पहले ही प्रशिक्षित कर रखा था जिससे जन साधारण को प्रशिक्षण देने में बड़ा सहयोग मिला। लोग सशक्त और विशालकाय थे। उन्होंने कठोर परिश्रम किया। खेतों में हल चलाकर बीज डाला। समय-समय पर वर्षा हुई, हरे-भरे खेत लहलहाने लगे। केवल

प्रकृति पर निर्भर रहता आया मानव अपने पसीने की कमाई देख प्रसन्नता से झूम उठा। महाराज ऋषभदेव, उनके सभी पुत्र-पुत्रियाँ और उनसे प्रशिक्षित लाखों शिल्पी एवं कलाकार स्वर्गोपम सुन्दर राष्ट्र के निर्माण के लिए कटिबद्ध हो चुके थे।

महाराज ऋषभ के एक ही इंगित पर उनसे प्रशिक्षण पाए हुए शिल्पियों ने अपने समस्त उपकरणों के साथ महाराज का आज्ञापत्र लिए विभिन्न जनपदों में महाराजाओं तथा राजाओं के पास और फिर वहाँ से राज्याधिकारियों के दलों के साथ राष्ट्र के कोने-कोने में पहुँच वहाँ के स्थानीय निवासियों के श्रम का सहयोग लेकर ग्रामों, नगरों, पट्टनों, संवाहों आदि का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। देखते ही देखते सम्पूर्ण राष्ट्र गगनचुम्बी अट्टालिकाओं और भवनों से मण्डित ग्रामों, नगरों और पट्टनों से सुसम्पन्न हो धरा पर साकार स्वर्ग तुल्य सुशोभित होने लगा।

वर्षीदान और दीक्षा

इस प्रकार ऋषभदेव ने प्रथम नरेन्द्र और लोकनायक के रूप में 63 लाख पूर्व तक राज्य का संचालन कर प्रेम और न्यायपूर्वक प्रजा का परिपालन किया। तदनन्तर स्थायी शांति प्राप्त करने और पवित्र जीवन जीने के लिए योग-मार्ग अपनाने का निश्चय किया। उनका विश्वास था कि अध्यात्म-साधना

के बिना मानव को स्थायी शांति नहीं मिल सकती। यही सोचकर उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और शेष 99 पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्यों का अधिकार सौंपकर गृहस्थ जीवन से छुटकारा लेकर आत्म-साधना के मार्ग पर पदार्पण करने का संकल्प लिया।

दीक्षा लेने से पूर्व भगवान ने वर्षी दान प्रारम्भ किया और प्रतिदिन प्रभात की पुण्य बेला में 1 करोड़ 8 लाख स्वर्णमुद्राओं का दान करने लगे। प्रभु ने यह दान निरन्तर 1 वर्ष तक किया। इस प्रकार 1 वर्ष में कुल 3 अरब 88 करोड़ 80 लाख स्वर्णमुद्राओं का दान किया। इस दान के द्वारा उन्होंने लोगों के मन में यह भावना भर दी कि 'द्रव्य का महत्त्व उसके भोग में नहीं बल्कि उसके त्याग में है।'

अन्त में 83 लाख पूर्व गृहस्थ-जीवन में बिताकर चैत्र कृष्ण नवमी के दिन देव-मानवों की विशाल उपस्थिति में षष्टम्भक्त के निर्जल तप के साथ अशोक वृक्ष के नीचे मुनि-दीक्षा स्वीकार की। उसके पश्चात् सिर के बालों का चतुर्मुष्टिक लुंचन कर प्रभु ने बताया कि सिर के बालों की तरह ही हमें पापों को भी जड़-मूल से उखाड़ फेंकना है। इन्द्र की प्रार्थना पर उन्होंने एक मुष्टि के बाल रहने दिये।

प्रभु के इस अपूर्व त्याग और तप को देख कर देवों, दानवों और मानवों का विशाल समूह चित्र-लिखित सा रह गया। उनके त्याग से प्रभावित होकर क्षत्रिय वंश के 4000 अन्य राजकुमारों ने भी उनके साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उन्हें प्रव्रज्या ऋषभदेव ने नहीं दी बल्कि उन्होंने स्वयं ही प्रभु का अनुसरण कर केश-लुंचन आदि क्रियाएँ कीं और साधु बनकर प्रभु के साथ विचरण प्रारम्भ किया। इस प्रकार संयमित जीवन की निर्मल साधना का संकल्प लेकर ऋषभदेव प्रथम मुनि और साधु के रूप में विश्ववंद्य हुए।

दान-तप का पर्व : अक्षय तृतीया

श्रमण हो जाने के पश्चात् ऋषभदेव दीर्घकाल तक अखण्ड मौनव्रती होकर अनासक्त भाव से, घोर अभिग्रह का संकल्प लेकर ग्रामानुग्राम भिक्षा के लिए भ्रमण करते पर उन्हें भिक्षा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि जनसाधारण को भिक्षा या उसकी विधि का ज्ञान नहीं था। साथ के 4000 श्रमण इस प्रतीक्षा में थे कि भगवान उनके लिए कुछ व्यवस्था करेंगे। पर काफी समय तक भगवान कुछ नहीं बोले तो वे भूख-प्यास से संत्रस्त हो वल्कलधारी तापस हो गये। वे पुन: घरों को तो नहीं गए पर कष्टसहिष्णुता और विवेक के अभाव में सम्यक्-साधना से

पथभ्रष्ट होकर परिव्राजक हो गए और वन में रहकर फल-फूलादि से अपना जीवनयापन करने लगे।

भगवान ऋषभदेव तो वीतराग थे, इस परिस्थिति में समचित्त होकर अग्लान भाव से विचरण करते रहे। भावुक भक्तजन उनको देखकर प्रसन्न होते, बहुमूल्य वस्तु, वस्त्राभूषण, रथ, वाहन, फल-फूल आदि प्रस्तुत कर ग्रहण करने की प्रार्थना करते पर विधिपूर्वक भिक्षा देने का ध्यान किसी को नहीं आता। परिणामस्वरूप भगवान ऋषभदेव उन सभी अग्रहणीय उपहारों को छोड़कर उल्टे पैरों खाली हाथ लौट जाते।

इस प्रकार भिक्षा के लिए विचरण करते हुए उन्हें लगभग 1 वर्ष से अधिक समय हो गया, फिर भी उनके मन में कोई ग्लानि पैदा नहीं हुई। भ्रमण करते हुए एक दिन प्रभु कुरू जनपद में हस्तिनापुर पधारे। वहाँ बाहुबली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांस युवराज थे। उन्होंने रात्रि में स्वप्न देखा - ''सुमेरु पर्वत कान्तिहीन हो गया है, उसे मैंने अमृत से सिंचित कर पुनः चमकाया है।'' सुबुद्धि श्रेष्ठि को स्वप्न आया कि सूर्य की हजार किरणें अपने स्थान से चलायमान हो रही थीं कि श्रेयांस ने उन्हें पुनः सूर्य में प्रतिस्थापित कर दिया, जिससे सूर्य और अधिक प्रकाशवान हो गया। महाराज सोमप्रभ को स्वप्न

आया कि शत्रुओं से युद्ध करते समय श्रेयांस ने किसी सामंत को सहायता प्रदान की और सामन्त ने इस सहायता के बल पर शत्रु-सेना को पीछे धकेल दिया। दूसरे दिन तीनों ने मिलकर अपने-अपने स्वप्नों पर विचार किया तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रेयांस को कुछ विशेष लाभ होने वाला है।

उसी दिन पुण्योदय से भगवान ऋषभदेव विचरते हुए हस्तिनापुर पधारे। प्रभु के दर्शन पाकर लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। श्रेयांसकुमार ने राजमार्ग पर भ्रमण करते हुए भगवान ऋषभदेव को देखा तो उनके दर्शन करते ही श्रेयांस के मन में जिज्ञासा हुई और चिन्तन करते हुए उन्हें ज्ञानावरण के क्षयोपक्षम से जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्वभव की स्मृति से उन्होंने जाना कि ये आरम्भ-परिग्रह के सम्पूर्ण त्यागी प्रथम तीर्थंकर हैं और इन्हें निर्दोष आहार देना चाहिए।

संयोग से उसी समय सेवकगण राजभवन में इक्षु-रस के पात्र लेकर पहुँचे। परम प्रसन्न हो श्रेयांसकुमार सात-आठ कदम भगवान के सामने गये, प्रदक्षिणा की और वंदनपूर्वक स्वयं इक्षु-रस का एक पात्र लेकर त्रिकरण शुद्धि से प्रतिलाभ देने की भावना से भगवान के सम्मुख उपस्थित हो बोले - ''प्रभो, क्या खप है?'' भगवान ने अंजलिपुट आगे बढ़ाया

और श्रेयांस ने प्रभु की अंजलि में इक्षु-रस उंड़ेल दिया। भगवान अछिद्रपाणि थे, अत: रस की एक बूँद भी नीचे नहीं गिरने पाई। श्रेयांस को बड़ी प्रसन्नता हुई। देवों ने पंच-दिव्य की वर्षा की और ''अहो दानं, अहो दानं'' की ध्वनि से आकाश गूँज उठा।

भगवान ऋषभदेव ने सबसे पहले जगत् को तप का पाठ पढ़ाया तो श्रेयांसकुमार ने सर्व प्रथम भिक्षा दान की विधि मानव-समाज को बताई। उस युग के वे प्रथम भिक्षा-दाता हुए। प्रभु के पारणे का वह दिन अक्षयकरणी वैशाखशुक्ला तृतीया का दिन होने के कारण लोक में अक्षय-तृतीया अथवा आखातीज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह दिन आज भी ''सर्वजन-विश्रुत पर्व'' माना जाता है। भरत चक्रवर्ती ने श्रेयांसकुमार के घर जाकर उनका अभिनन्दन एवं सम्मान करते हुए कहा, ''वत्स! तुम इस अवसर्पिणीकाल के दानतीर्थ के प्रथम संस्थापक हो, अत: तुम्हें प्रणाम है।''

भगवान ऋषभदेव ने एक ऐसी मानव-संस्कृति का सूत्रपात किया जो सहअस्तित्व, विश्व-बंधुत्व आदि उच्च और उत्तम मानवीय विशेषताओं से परिपूर्ण प्राणिमात्र के लिए इहलोक एवं परलोक, दोनों में कल्याणकारी है। परिणामस्वरूप

भगवान ऋषभदेव मानव मात्र के आराध्यदेव बन गए। भारत के सभी प्राचीन धर्मग्रंथों में उन्हें वही सार्वभौम स्थान प्राप्त है जो जैन धर्मग्रंथों में। ऋग्वेद, अथर्ववेद में इनका गुणगान है। श्रीमद्भागवत्, शिवपुराण, कूर्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, मनुस्मृति, बौद्ध ग्रन्थ 'आर्य मंजुश्री', सूरसागर आदि ग्रंथों में नाभिपुत्र ऋषभदेव का यशोगान है। उनके प्रथम पारणक से संबंधित अक्षय-तृतीया के पर्व का महत्त्व वैदिक परम्परा में भी उतनी ही श्रद्धा और भक्ति का प्रतीक और पुण्य-प्रदाता है।

कैवल्य और तीर्थ-स्थापना

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् प्रभु 1000 वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए तपश्चरण द्वारा आत्मस्वरूप को प्रकाशित करते रहे। अन्त में प्रभु पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख नामक उद्यान में फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन अष्टम-तप के साथ ध्यानावस्थित हुए और क्षपकश्रेणी से चार घातीकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की। उन्हें यह ज्ञान एक वटवृक्ष के नीचे हुआ। अत: वटवृक्ष भगवान ऋषभदेव का चैत्यवृक्ष माना जाता है और देश में वटवृक्ष को आदर एवं गौरव की दृष्टि से देखा जाता है। केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ भगवान ऋषभदेव अरिहंत हो

गए और उनमें अरिहंतों के 12 गुण प्रकट हुए।

केवलज्ञान द्वारा ज्ञान की पूर्ण ज्योति पा लेने के बाद भगवान ने जहाँ प्रथम देशना दी, उस स्थान को और उपदेश-श्रवणार्थ उपस्थित नर-नारी समुदाय, देव-देवी व तिर्यंच समुदाय को समवसरण कहते हैं। आचार्यों ने समवसरण की व्याख्या करते हुए कहा है कि साधु-साध्वी आदि संघ का एकत्र होना अथवा व्याख्यान-सभा को समवसरण कहते हैं। तीर्थंकर की प्रवचन-सभा को भी समवसरण कहा जाता है।

वैसे तो केवलज्ञानी और वीतरागी हो जाने के पश्चात् भगवान ऋषभदेव चाहते तो एकान्त साधना से भी मुक्ति पा सकते थे, फिर भी उन्होंने देशना दी। इसके कारणों में प्रथम तो यह कि जब तक देशना देकर धर्मतीर्थ की स्थापना नहीं की जाती, तब तक तीर्थंकर नामकर्म का भोग नहीं होता। दूसरा, जैसा कि प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है, समस्त जगजीवों की रक्षा व दया के लिए भगवान ने प्रवचन दिया। अत: भगवान ऋषभदेव को शास्त्र में प्रथम धर्मोपदेशक तथा वैदिक पुराणों में दशविध धर्म का प्रवर्तक माना गया है।

जिस दिन भगवान ऋषभदेव ने प्रथम देशना दी, वह फाल्गुन कृष्णा एकादशी का दिन था। उस दिन भगवान ने श्रुत

एवं चारित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रिभोजन-विरमण सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। प्रभु ने समझाया कि मानव जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, योग है । राग नहीं, विराग है। वृत्तियों का दमन नहीं अपितु ज्ञानपूर्वक शमन है।

भगवान की पीयूषवर्षिणी वाणी से निकले हुए इन त्याग-विराग पूर्ण उद्‌गारों को सुनकर सम्राट भरत के ऋषभसेन आदि पाँच सौ पुत्रों एवं सात सौ पौत्रों ने साधु-संघ में और ब्राह्मी आदि पाँच सौ सन्नारियों ने साध्वीसंघ में दीक्षा ग्रहण की। महाराज भरत सम्यक्‌दर्शी श्रावक हुए। श्रेयांसकुमार आदि सहस्रों नर-पुंगवों और सुभद्रा आदि सन्नारियों ने सम्यक्‌दर्शन और श्रावक-व्रत ग्रहण किया। इस प्रकार साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप यह चार प्रकार का संघ स्थापित हुआ। धर्म-तीर्थ की स्थापना करने के कारण भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर कहलाए।

ऋषभसेन ने प्रव्रज्या ग्रहण की और तीन पृच्छाओं से उन्होंने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। भगवान के चौरासी गणधरों में प्रथम गणधर ऋषभसेन हुए। ऋषभदेव के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले जो चार हजार व्यक्ति कष्टों से घबराकर

तापस हो गए थे, उन्होंने भी जब भगवान के केवलज्ञानोत्पत्ति और धर्म-तीर्थ प्रवर्तन की बात सुनी तो कच्छ और महाकच्छ को छोड़.शेष सभी भगवान की सेवा में आए और आर्हती प्रव्रज्या ग्रहण कर साधु संघ में सम्मिलित हो गए।

भरत का विवेक

जिस समय भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई उस समय संपूर्ण लोक में ज्ञान का प्रकाश हो गया। सम्राट भरत को जिस समय प्रभु के केवलज्ञान की सूचना मिली, उसी समय एक दूत ने आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होने की सूचना भी दी। आचार्य जिनसेन के अनुसार उन्हें पुत्ररत्न प्राप्ति की तीसरी सूचना भी उसी समय मिली।

एक ही साथ तीन शुभ सूचनाएँ पाकर महाराज भरत असमंजस में पड़ गए कि किस मांगलिक कार्य का महोत्सव प्रथम मनाया जाय पर सम्यक् विवेक के आधार पर उन्होंने निर्णय लिया कि चक्ररत्न और पुत्ररत्न की प्राप्ति तो अर्थ एवं काम का फल है, ये दोनों उपलब्धियाँ नश्वर एवं भौतिक हैं पर प्रभु का केवलज्ञान धर्म का फल है, और शाश्वत है। अत: पहले प्रभुचरणों की वंदना और उपासना करनी चाहिए क्योंकि केवलज्ञान ही सभी कल्याणों का मूल और महालाभ का कारण

है। यह सोचकर चक्रवर्ती भरत प्रभु ऋषभदेव के चरण-वंदन को चल पड़े। भरत जैसे चक्रवर्ती सम्राट ने धर्म को प्रथम स्थान देकर जन-जन को निरासक्ति और आत्म-कल्याण का मंगल सन्देश दिया।

मरुदेवी की मुक्ति

माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु चिरकाल से तड़प रही थी। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् 1000 वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी अपने प्रिय पुत्र को एक बार भी नहीं देख पाई थीं। उस की स्मृति में प्रतिपल उनके नयनों से अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती थी। भरत की विपुल राज्यवृद्धि को देखकर उन्हें उलाहना देते हुए प्राय: कहा करती कि तुम अमित ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे हो किन्तु मेरा लाड़ला ऋषभ न जाने कहाँ भटक रहा है। अत: भरत ने जब भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त होने का समाचार सुना तो तत्काल माता मरुदेवी की सेवा में पहुँचे और उन्हें ऋषभदेव के पुरिमताल नगर में पधारने और केवलज्ञान की प्राप्ति का शुभ समाचार सुनाया। यह सुनकर माता मरुदेवी हर्षातिरेक से पुलकित हो उठीं और भरत के साथ ही प्रभु के दर्शनार्थ चल पड़ी।

समवसरण के निकट पहुँच कर माता मरुदेवी ने

ऋषभदेव की महिमा-अर्चा देखी तो सोचने लगी कि मैं तो सोचती थी कि मेरा पुत्र कष्टों में होगा, किन्तु यहाँ तो यह अनिर्वचनीय आनंदसागर में गोते लगा रहा है। इस प्रकार विचार करते-करते उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया। वे आर्त्तध्यान से शुक्लध्यान में आरूढ़ हुई और कुछ ही क्षणों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय के सघन आवरणों को दूर कर केवलज्ञान और केवलदर्शन की धारक बन गई। आयु का अवसानकाल सन्निकट होने के कारण कुछ ही समय में शेष चार अघाति कर्मो को भी समूल नष्ट कर गजारूढ़ स्थिति में ही सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गईं।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि वे भगवान ऋषभदेव की धर्मदेशना सुनती हुई ही आयु पूर्ण होने से सिद्ध हो गईं। इस अवसर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीवों में माता मरुदेवी का प्रथम स्थान है। इस तरह माता मरुदेवी मातृत्व और नारीत्व के सर्वोत्कर्ष की अमर प्रतिमान बन गई।

अहिंसक युद्ध

सम्राट भरत सम्पूर्ण भारत-भूखण्ड पर अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। उनके 98 भाइयों ने दीक्षा ग्रहणकर उनका मार्ग सरल बना दिया था, फिरभी एक बाधा

थी कि बाहुबली को कैसे जीता जाय? उसके बिना चक्रवर्तित्व तथा एक छत्र राज्य की स्थापना असंभव थी। अत: उन्होंने अपने छोटे भाई बाहुबली को संदेश भिजवाया कि वह भी उनकी अधीनता स्वीकार कर ले। पर बाहुबली ने साफ इनकार कर दिया। चक्रवर्ती नामकर्म के प्राबल्य के कारण भरत को बाहुबली पर आक्रमण करने का निश्चय करना पड़ा।

भरत ने विशाल सेना के साथ 'बहली देश' की सीमा पर आकर पड़ाव डाला। दोनों सेनाओं में कुछ समय तक युद्ध होता रहा। पर उससे होने वाले नरसंहार से बचने के लिए बाहुबली ने सुझाव रखा कि दोनों भाई ही मिलकर निर्णायक द्वन्द्व युद्ध कर लें। भरत ने बात मान ली। दोनों में दृष्टि-युद्ध, वाग्युद्ध, बाहु-युद्ध और मुष्टि-युद्ध हुए और सब में जीत बाहुबली की ही हुई। छोटे भाई से पराजित होकर भरत को इतना गहरा आघात लगा कि उन्होंने बाहुबली के शिरच्छेदन के लिए चक्ररत्न का प्रहार किया। पहले तो बाहुबली ने क्रुद्ध हो चक्र को पकड़ना चाहा पर तत्क्षण उसके मन में विचार आया कि बड़ा भाई भले ही मर्यादा विरुद्ध काम करे, पर उसे भ्रातृवध जैसा जघन्य पाप नहीं करना चाहिए। बाहुबली भरत के ही परिवार का सदस्य व चरमशरीरी होने से चक्ररत्न बाहुबली

की प्रदक्षिणा करके वापस लौट गया।

हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के अनुसार बाहुबली ने भरत पर प्रहार करने के लिए जैसे ही मुष्टि उठाई, तभी उन्हें विचार आया 'ऋषभ की सन्तानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की है।' किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाय? उन्होंने अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर डाला और बालों का लुंचन कर श्रमणधर्म स्वीकार किया।

ऋषभदेव की सेवा में जाने की इच्छा होते हुए भी बाहुबली के पैर आगे नहीं बढ़ सके क्योंकि उनके मन में यह अहंकार उत्पन्न हुआ कि पूर्व-दीक्षित अपने छोटे भाइयों के पास यों ही कैसे जाऊँ? फलस्वरूप वे वहीं ध्यानस्थ हो गये और एक वर्ष तक इसी अवस्था में खड़े रहे। शरीर पर बेलें उग आईं, सुकोमल शरीर मुरझा गया, पैर दीमकों की मिट्टी से ढँक गए पर उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ। प्रभु ऋषभदेव को बाहुबली की इस स्थिति का ज्ञान हुआ तो उन्होंने उन्हें प्रतिबोध देने हेतु ब्राह्मी और सुन्दरी को उनके पास भेजा। दोनों साध्वियाँ तत्काल बाहुबली के पास पहुँची और मृदु स्वर में बोली, ''भाई, हाथी से नीचे उतरो, हाथी पर बैठे केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।'' साध्वियों की प्रेरक, मृदु वाणी को सुनकर बाहुबली समझ गये

कि वे अभिमान के हाथी पर आरूढ़ हैं। उनका सारा अहं मिट गया और उन्होंने अपने छोटे भाइयों को नमन करने के लिए पैर उठाए ही थे कि उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। केवली बनकर वे भगवान के समवसरण में गए और प्रभु को वन्दन कर केवली-परिषद में बैठ गए। सारी परिषद् अहिंसा और विनय के शाश्वत सुफल को देख रही थी।

भरत की अनासक्ति

भारतवर्ष का एकछत्र सार्वभौम साम्राज्य पाकर भी भरत के मन में शांति नहीं थी। अपने निन्यानवें भाइयों को खोकर नश्वर राज्य के लिए अपने भाइयों के मन में जो अन्तर्द्वन्द्व उन्होंने उत्पन्न किया, उसका उनके मन में खेद था। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर शासन करते हुए भी उनके मन में उसके प्रति कोई आसक्ति नहीं थी।

एक बार ऋषभदेव भगवान अपने शिष्यों के साथ विनीता नगरी के उद्यान में विराजमान थे। प्रभु की दिव्य देशना हो रही थी। एक श्रोता ने पूछा-''प्रभो! चक्रवर्ती भरत किस गति में जाएँगे?'' प्रभु ने कहा-''मोक्ष में!'' प्रश्नकर्ता मंद स्वर में बोल उठा - ''अहो! भगवान के मन में भी पुत्र के प्रति

पक्षपात है।''

यह बात भरत के कानों तक पहुँची तो भरत को दु:ख हुआ कि उनके कारण भगवान पर आक्षेप किया जा रहा है। उस व्यक्ति के मन में भगवान की वाणी के प्रति उत्पन्न संदेह का निराकरण करने के लिए उन्होंने उस व्यक्ति को बुलाकर कहा – तेल से भरा हुआ यह कटोरा लेकर विनीता नगरी के बाजारों का चक्कर लगा आओ, पर ध्यान रहे, यदि कटोरे में से तेल की एक बूँद भी गिरी तो तुम्हें फाँसी दे दी जाएगी।

भरत के आदेशानुसार वह व्यक्ति सारी विनीता नगरी में घूम आया। उस समय नगरी में तरह–तरह के मनोरंजक कार्यक्रम हो रहे थे पर मृत्यु के डर ने उसे किसी ओर नजर तक उठाने का अवसर नहीं दिया। अत: जब महाराज भरत ने उस व्यक्ति से नगर में चल रहे नाटक आदि देखने के बारे में पूछा तो उस व्यक्ति ने उत्तर दिया – जिस के सिर पर मौत का भय हो, वह नाटक आदि कैसे देख सकता है? इस पर भरत ने कहा– ''भाई जिस प्रकार तुम एक जीवन के मृत्यु–भय से संत्रस्त होने के कारण नाटक आदि नहीं देख सके, उसी प्रकार मेरे सामने तो सुदीर्घकाल की मृत्यु परम्परा का भय है जिसके कारण मैं साम्राज्य–सुख और लीला का उपभोग करते हुए भी उसमें

आसक्त नहीं हो पा रहा हूँ। मैं तन से संसार के सुख का उपभोग करते हुए भी मन से प्राय: निर्लिप्त ही रहता हूँ।''

भरत के इस कथन को सुनकर उस व्यक्ति के मन में भगवान ऋषभदेव की बात के प्रति जो शंका थी वह दूर हो गई। भरत के जनहितकारी शासन के कारण ही भारत देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।

ऋषभदेव का धर्म-परिवार

भगवान ऋषभदेव का गृहस्थ परिवार विशाल था, उसी प्रकार उनका धर्म-परिवार भी बहुत बड़ा था। यों देखा जाये तो प्रभु ऋषभदेव की वीतराग वाणी को सुनकर कोई विरला ही ऐसा रहा होगा जो लाभान्वित व उनके प्रति श्रद्धामय न हुआ हो। परन्तु यहाँ पर व्रतियों की दृष्टि से ही उनके धर्मपरिवार का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भगवान ऋषभदेव का धर्म-परिवार इस प्रकार है:-

गणधर 84, केवली साधु 20000, केवली साध्वियाँ 40000, मन:पर्यवज्ञानी 12650, अवधिज्ञानी 9000, चतुर्दश पूर्वधारी 4750, वादी 12650, वैक्रिय लब्धिधारी 20600, अनुत्तरोपपातिक 22900, साधु 84000, साध्वियाँ

300000, व्रती श्रावक 350000, व्रती श्राविकाएँ 554000।

प्रभु ऋषभदेव ने 1000 वर्ष कम 1 लाख पूर्व तक तीर्थंकर पर्याय में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विहार किया। उन्होंने बहली, अंडबइल्ला-अटक प्रदेश, यवन-यूनान, पन्नव-पर्शिया, स्वर्णभूमि जैसे दूर-दूर के क्षेत्रों में भी विचरण किया और लोगों को धर्म का उपदेश दिया। यह भगवान ऋषभदेव के उपदेशों का ही परिणाम था कि उस समय जैन धर्म देश और दुनिया के दूरस्थ प्रदेशों में सार्वभौम धर्म के प्रतिष्ठित पद पर अधिष्ठित था।

ऋषभदेव का निर्वाण

ऋषभदेव 20 लाख पूर्व की अवस्था तक कुमार अवस्था में और 63 लाख पूर्व तक महाराज पद पर, इस प्रकार कुल 83 लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था में रहे। फिर अणगार बन 1000 वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय में रहे। एक हजार वर्ष कम 1 लाख पूर्व तक वे केवली पर्याय अर्थात् तीर्थंकर रूप में रहे। सब मिलाकर उन्होंने 1 लाख पूर्व तक श्रमणधर्म का पालन किया। अन्त में आयु समाप्ति को निकट समझ 10000

अन्तेवासी साधुओं के परिवार के साथ अष्टापद पर्वत पर पादपोपगमन संथारा किया। वहाँ माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन प्रभु ऋषभदेव निर्वाण को प्राप्त हुए। प्रभु के साथ जिन 10 हजार साधुओं ने संथारा किया था, वे भी उन्हीं के साथ सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

भगवान ऋषभदेव का निर्वाण होते ही देवराज इन्द्र आदि 64 इन्द्रों के आसन चलायमान हुए। वे सब अपने-अपने देव परिवार के साथ अष्टापद पर्वत पर पहुँचे। देवराज इन्द्र की आज्ञा से तीन चिताओं और तीन शिविकाओं का निर्माण कराया गया। स्वयं इन्द्र ने प्रभु के पार्थिव शरीर को क्षीरोदक से स्नान करवाकर गोशीर्ष चंदन का लेपन किया। अन्य देवों ने गणधरों तथा साधुओं के पार्थिव शरीरों को इसी प्रकार नहलाया और चंदनलेप किया। उन पार्थिव शरीरों को अतीव सुंदर शिविकाओं में रखा, इन्द्रों ने प्रभु की शिविका को और देवों ने गणधरों तथा साधुओं की शिविका को दिव्य देव वाद्यों और ''जय-जय'' की तुमुल ध्वनि के साथ उठाकर चिताओं के पास पहुँचाया। उसी क्रम से पार्थिव शरीरों को उनके अंतिम संस्कार के लिए निर्मित चिताओं पर रखा गया। शक्र की आज्ञा से अग्निकुमारों ने चिताओं में अग्नि की विकुर्वणा

की व वायुकुमार देवों ने अग्नि को प्रज्वलित किया। इस प्रकार प्रभु ऋषभदेव तथा उनके अन्तेवासियों का अग्नि संस्कार समाप्त कर उनकी चिताओं को क्षीरोदक से शांत किया गया। तदुपरान्त देवराज की आज्ञा से उन चिता-स्थानों पर चैत्य-स्तूपों का निर्माण किया गया।

वैदिक परम्परा में माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन आदिदेव का शिवलिंग के रूप में उद्‌भव होना माना गया है। भगवान ऋषभदेव के शिव-पद-प्राप्ति का इससे साम्य प्रतीत होता है। यह संभव है कि भगवान ऋषभदेव की चिता पर जो स्तूप निर्मित हुआ वही आगे चलकर स्तूपाकार चिह्न शिवलिंग के रूप में लोक में प्रचलित हो गया हो।

सर्वपूज्य ऋषभदेव

जैन परम्परा की तरह वैदिक और बौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव का परिचय उपलब्ध है। पुराणों में लिखा है कि भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम से इस देश का नाम भारत प्रसिद्ध हुआ। श्रीमद्‌भागवत् में ऋषभदेव को साक्षात् ईश्वर का रूप बताते हुए उनके उपदेशों का सार इस प्रकार बताया है - ''मेरे इस अवतार-शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिये बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्व ही मेरा

हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे ढकेल दिया है, इसलिये सत्पुरुष मुझे ऋषभ कहते हैं। पुत्रों! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतों को मेरा ही शरीर समझकर शुद्ध बुद्धि से पद-पद पर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है।''

बौद्ध साहित्य में लिखा है कि भारत के आदि सम्राटों में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की गणना की गई है। वे व्रतपालन में दृढ़ थे। उन्होंने हिमवंत गिरि हिमालय पर सिद्धि प्राप्त की। धम्मपद में ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है। ऋषभदेव को आदिनाथ के अलावा और भी कई नामों से जाना जाता है जैसे हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, चतुरानन, नाभिज, स्रष्टा, स्वयंभू आदि। ये सभी नाम पुराणों में प्रसिद्ध देव ब्रह्मा के पर्याय हैं। इसलिए कहीं-कहीं इस बात का उल्लेख भी मिलता है कि ब्रह्मा और भगवान ऋषभदेव अलग नहीं बल्कि एक ही हैं।

भारत के प्राचीन धर्मग्रन्थों - वेदों, पुराणों, मनुस्मृति एवं बौद्ध ग्रंथ आर्य मंजुश्री आदि के गरिमापूर्ण उल्लेखों पर चिंतन-मनन से सहज ही विदित होता है कि युगादि की सम्पूर्ण मानवता ने भगवान ऋषभदेव को अपने सार्वभौम लोकनायक, सार्वभौम धर्मनायक, सार्वभौम हृदयसम्राट तथा सर्वोच्च

आराध्य के रूप में स्वीकार किया था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भगवान ऋषभदेव के विराट व्यक्तित्व का जिस श्रद्धा के साथ जैन धर्म के आगम-ग्रंथों में दिग्दर्शन कराया गया है, ठीक उसी प्रकार की अगाध प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ भारत के प्राय: सभी प्राचीन धर्मों के पवित्र ग्रंथों में उनके लोक-व्यापी वर्चस्व का प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने मानव-समाज को इस लोक के साथ-साथ परलोक को भी सुखद और सुन्दर बनाने के जो मार्ग बताये, वे न केवल मानवमात्र अपितु प्राणिमात्र के लिए वरदान सिद्ध हुए। उनके द्वारा आविर्भूत लोकनीति और राजनीति किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं, अपितु समष्टि के हित के लिए थी। उनके द्वारा स्थापित धर्म-मार्ग भी समष्टि के कल्याण के लिए था। यही कारण है कि भारत के प्राचीन धर्म ग्रंथों में भगवान ऋषभदेव को धाता, भाग्य-विधाता आदि अनेक उत्तम और श्रद्धास्पद विशेषणों व संबोधनों से अभिहित किया गया है।

भरत का कैवल्य और मुक्ति

भरत एक दिन वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर अपने शीशमहल में गए। वहाँ आईनों में प्रतिबिंबित अपने सौंदर्य को देख स्वयं मुग्ध हो रहे थे। अपनी अंगुलियों की शोभा को

निहारते हुए उन्हें लगा कि सभी अँगुलियों के बीच एक अंगुली शोभाविहीन है, क्योंकि उसकी अँगूठी कहीं गिर गई है। फिर उनके मन में विचार आया कि देखें अंगूठियों के न रहने पर अंगुलियाँ कैसी लगती हैं और उन्होंने एक-एक करके सारी अँगूठियाँ उतार दीं, फिर उन्होंने सारे आभूषण भी उतार दिये। आभूषणों को उतारते ही उन्हें अपना शरीर कमल रहित सरोवर के समान शोभाविहीन प्रतीत हुआ। यह देख भरत के मन में विचार आया कि शरीर का सारा आकर्षण आभूषणों के कारण है, अर्थात् यह सारा सौंदर्य अपना नहीं, पराया हैं। असली नहीं, नकली है। प्राकृतिक नहीं, कृत्रिम है। उन्हें अनुभव हुआ कि भौतिक अलंकारों से लदी हुई सुन्दरता कितनी सारहीन और भ्रामक है। इसके मोह में पड़कर मनुष्य अपने ''स्वरूप'' को भूल जाता है।

धीरे-धीरे भरत के चिन्तन का प्रवाह सम, संवेग, और निर्वेद की भूमिका पर पहुँचा और अपूर्वकरण में प्रविष्ट हो उन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय नामक चार घातिकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान-तीनों कालों की सम्पूर्ण लोक की समस्त पर्यायों के ज्ञाता-दृष्टा बन गए। उन्होंने स्वयं

समस्त अलंकरणों को उतार दिया और पंचमुष्टि लुंचन किया। केवली के रूप में भरत शीशमहल से निकले और अपने अन्त:पुर के मध्य भाग से होते हुए बाहर निकल आए, उन्होंने दस हजार राजाओं को प्रतिबोध दे श्रमणधर्म में दीक्षित किया। फिर उनके साथ विनीता नगरी से बाहर निकल कर सुखपूर्वक विचरण करने लगे। लगभग एक लाख पूर्व तक विचरण करने के बाद वे अष्टापद पर्वत पर आये। वहाँ उन्होंने एक शिलापट्ट पर भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर पादपोपगमन संथारा किया। काल की कामना रहित वे पादपोपगमन संथारे में स्थिर रहे।

इस प्रकार एक मास पर्यन्त जलरहित भक्त प्रत्याख्यान से वे कालधर्म को प्राप्त हो सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए और अनन्त, अक्षय, शाश्वत शिव पद को प्राप्त हुए। इस प्रकार प्रभु ऋषभदेव के चरणचिह्नों पर चलकर उन्होंने आत्म-कल्याण किया।

इतिहास पुरुष आचार्य हस्ती

युग मनीषी आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज भारतीय निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र थे। वि. सं. 1967 की पौष शुक्ला चतुर्दशी (13 जनवरी 1911) को राजस्थान के जोधपुर जिलान्तर्गत पीपाड़ सिटी में उनका जन्म हुआ। उनके जन्म के दो माह पूर्व ही उनके पिता श्री केवलचन्द बोहरा प्लेग की चपेट में आकर परलोक सिधार गये। उनकी माँ श्राविका रूपकँवर (रूपादेवी) पर यह अनभ्र वज्रपात था। इस घटना से रूपादेवी को संसार से विरक्ति हो गई। वैराग्यभाव के साथ ही उसने बालक हस्तीमल का पालन-पोषण किया और गहरे धर्मसंस्कार प्रदान किये। इस बीच कुछ ही वर्षों के अन्तराल में हस्ती के नाना तथा दादी का भी देहान्त हो गया। जन्मजात वैरागी बालक हस्ती के चित्त पर इन घटनाओं का गहरा असर हुआ और उनका वैराग्य दृढ़ से दृढ़तर बनता गया।

माघ शुक्ला द्वितीया वि.सं. 1977 (10 फरवरी 1921) को अजमेर (राज.) में महज 10 की बालवय में आचार्य श्री शोभाचन्द्रजी महाराज से वैरागी हस्तीमल ने मुनि जीवन अंगीकार कर लिया। उनके साथ ही उनकी वीरमाता रूपादेवी तथा अन्य दो मुमुक्षुओं ने भी दीक्षा लेकर संयम की राह अपना ली। दीक्षा के उपरान्त ही उन्होंने जैनागम, प्राच्य भाषा, दर्शन और साहित्य का अध्ययन शुरू कर दिया। बचपन से ही विशिष्ट

योग्यता और प्रतिभा के धनी बालयोगी मुनि हस्तीमल का मात्र साढ़े पन्द्रह वर्ष की वय में ही संघ नायक के रूप में चयन कर लिया गया। थोड़े ही समय में उनका ज्ञान-ध्यान इतना अनुत्तर बन गया कि मात्र 19 वर्ष 3 माह और 19 दिन की तरुण वय में वि. सं. 1987 की वैशाख शुक्ला 3 अक्षय तृतीया को जोधपुर में उन्हें स्थानकवासी परम्परा के रत्नसंघ के सप्तम आचार्य के रूप में अभिषिक्त कर दिया गया। जैन इतिहास में कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के बाद संभवत: यह पहला अवसर था जब 20 वर्ष से कम उम्र के किसी मुनि को आचार्य पद पर आरूढ़ किया गया।

आचार्य हस्ती का व्यक्तित्व अखूट आध्यात्मिक ऊर्जा से भरा और कृतित्व बहुआयामी था। सामायिक साधना के द्वारा समभाव-प्राप्ति का सन्देश देने के साथ उन्होंने लाखों लोगों को स्वाध्याय से जोड़कर समाज में मैत्री और ज्ञान का नव आलोक प्रसारित कर दिया। व्यसनमुक्ति, कुरीति-उन्मूलन, नारी-शिक्षा जैसे अनेक कदम उन्हें महान समाज सुधारक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। करुणा के सागर आचार्य हस्ती ने साँप जैसे विषैले प्राणी को भी अभय प्रदान किया। अहिंसा, क्षमा और समता को उन्होंने व्यवहार स्तर पर जिया और दुनिया को यह सन्देश दिया कि भगवान महावीर के अहिंसा आदि जीवन मूल्य सभी मौजूदा समस्याओं का समाधान करने में पूर्ण सक्षम है।

प्राचीन भाषा व लिपि के विशेषज्ञ आचार्य हस्ती का जीवन उनके जीवनकाल में ही इतिहास बन गया था। अथक श्रम और प्रचुर प्रामाणिक सन्दर्भो के साथ लगभग साढ़े तीन हजार पृष्ठों में लिखित और चार भागों विभक्त 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' जैन धर्म और भारतीय समाज के लिए उनका अमर अवदान है। इसके अतिरिक्त कई जैन आगम ग्रंथों का उन्होंने सम्पादन, अनुवाद और पद्यानुवाद किया। धर्म, संस्कृति और अध्यात्म की गहरी अनुभूतियों से अनुप्राणित काव्य उन्होंने रचे। वे एक कुशल और प्रभावी प्रवचनकार थे। उनके प्रेरक प्रवचनों का संकलन 'गजेन्द्र व्याख्यानमाला' शीर्षक से सात भागों में प्रकाशित हुआ।

राजस्थान, दिल्ली, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु आदि क्षेत्रों में विचरण करते हुए आचार्य हस्ती ने कुल 70 चातुर्मास किये और 85 मुमुक्षुओं को श्रमण जीवन में दीक्षित किया। वि. सं. 2048 की वैशाख (प्रथम) शुक्ला अष्टमी (21 अप्रेल 1991) को रात्रि 8 बजकर 21 मिनट पर 13 दिवसीय तप-संथारे के साथ आचार्य हस्ती इस नश्वर देह को छोड़कर देवलोकगमन कर गये। जन्म और जीवन की तरह उनका महाप्रयाण भी एक इतिहास बन गया। सम्प्रति उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री हीराचन्द्रजी महाराज रत्नसंघ के अष्टम पट्टधर हैं।

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
के विविध सेवा सोपान

- जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका का प्रकाशन
- जैन इतिहास, आगम एवं अन्य सत्साहित्य का प्रकाशन
- आचार्य श्री हस्ती आध्यात्मिक शिक्षण संस्थान
- अखिल भारतीय श्री जैन विद्वत् परिषद का संचालन
- वीतराग ध्यान साधना केन्द्र का संचालन

उक्त प्रवृत्तियों में दानी एवं प्रबुद्ध चिन्तकों के
रचनात्मक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा है।

सम्पर्क सूत्र
मंत्री
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
दुकान नं. 182-183, के ऊपर, बापू बाजार
जयपुर-302003 (राजस्थान)
दूरभाष : 0141-2575997 फैक्स : 0141-2570753
ई-मेल - sgpmandal@yahoo.in